

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

(अनुष्टुभ्)

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः।

व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ॥१५॥

(दोहा)

परिस्पन्दमय देह यह मैं हूँ अपरिस्पन्द।

यह मेरी हूँ व्यवहार यह तजू इसे अविलम्ब ॥१५॥

मैं अपरिस्पन्दरूप हूँ और यह देह परिस्पन्दात्मक है। यह देह व्यवहार से मेरी कही जाती है; इसलिए मैं इस देह की विकृति को छोड़ता हूँ।

परिस्पन्द का अर्थ होता है कंपन। मेरा स्वभाव अकंप है, मैं अकंपन हूँ और यह शरीर कंपनशील स्वभाव का है। यद्यपि इस शरीर से मेरा कुछ भी संबंध नहीं है; तथापि व्यवहार से यह मेरा कहा जाता रहा है। अतः मैं अब इस व्यवहार से भी मुक्त होता हूँ - इसप्रकार के चिन्तनपूर्वक काय का ममत्व छोड़कर आत्मसन्मुख होना कायोत्सर्ग है।

यही भाव है इस कलश का।

नियमसार गाथा ७१

व्यवहारचारित्राधिकार में अब तक पंच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों की चर्चा हुई; अब अरहंतादि पंचपरमेष्ठियों की चर्चा आरंभ करते हैं। सबसे पहले अरहंत परमेष्ठी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

घनघाटकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।

चोत्तिस अदिसयजुत्ता अरिहंता एरिसा होंति ॥७१॥

(हरिगीत)

अरिहंत केवलज्ञान आदि गुणों से संयुक्त हैं।

घनघाति कर्मों से रहित चौतीस अतिशय युक्त हैं ॥७१॥

घनघाति कर्मों से रहित, केवलज्ञानादि परमगुणों से सहित और चौतीस अतिशयों

से संयुक्त - ऐसे अरहंत होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह अरिहंत भगवान के स्वरूप का कथन है। आत्मगुणों के घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक घातिकर्मों से रहित; पूर्व में अर्जित चार घातिकर्मों के नाश से प्राप्त, तीन लोक के प्रक्षोभ के हेतुभूत सकल विमल केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलशक्ति और केवलसुख से सहित; स्वेद रहित, मल रहित इत्यादि चौंतीस अतिशयों के निवास स्थान - ऐसे भगवंत अरहंत होते हैं।”

इस गाथा में तीर्थंकर अरहंत का स्वरूप स्पष्ट करते हुए तीन बातें कही गई हैं। पहली बात तो यह है कि वे घातिकर्मों से रहित हैं, दूसरे उनके अनंतचतुष्टय प्रगट हो गये हैं और तीसरी बात यह है कि उनके चौंतीस अतिशय होते हैं। घातिकर्म के अभाव में ही अनंतचतुष्टय प्रगट होते हैं। अतः नास्ति से घातिकर्मों का अभाव कहा और अस्ति से अनंतचतुष्टय से सहित की बात कही। अतः एक प्रकार से दोनों एक ही बात है। चौंतीस अतिशय तो पुण्य के फल हैं। उनसे आत्मा का कोई सीधा संबंध नहीं है।

इसप्रकार कुल मिलाकर यही सुनिश्चित है कि अरहंत भगवान अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य - इन चार अनंत चतुष्टयों से संपन्न होते हैं।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव पाँच छन्द लिखते हैं, जिनमें भगवान पद्मप्रभु की स्तुति की गई है। उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः

सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः ।

मुनिजनवनचैत्रः कर्मवाहिन्यमित्रः

सकलहितचरित्रः श्रीसुसीमासुपुत्रः ॥१६॥

(हरिगीत)

विकसित कमलवत नेत्र पुण्य निवास जिनका गोत्र है।

हैं पण्डिताम्बुज सूर्य मुनिजन विपिन चैत्र वसंत हैं॥

जो कर्मसेना शत्रु जिनका सर्वहितकर चरित है।

वे सुत सुसीमा पद्मप्रभजिन विदित तन सर्वत्र हैं॥१६॥

सर्वजनविदित जिनका शरीर है, प्रफुल्लित कमलों के समान जिनके नेत्र हैं, पुण्य का आवास ही जिनका गोत्र है, पण्डितरूपी कमलों को विकसित करने के लिए जो सूर्य हैं, मुनिजनरूपी वन को जो चैत्र माह अर्थात् वसंत ऋतु के समान हैं, कर्म की सेना के जो शत्रु हैं और जिनका चारित्र सबके हितरूप हैं; वे श्रीमती सुसीमा माता के सुपुत्र श्री पद्मप्रभ तीर्थंकर भगवान जयवंत हैं।

अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करनेवाली इस गाथा के बाद जो पाँच छन्द दिये गये हैं; उनमें पद्मप्रभ भगवान की स्तुति की गई है। इसका क्या औचित्य है - यह समझ में नहीं आता। इसप्रकार का विकल्प आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी को भी आया होगा। यही कारण है कि वे इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार करते हैं-

“इस नियमशास्त्र के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव निर्ग्रन्थ मुनि थे। छठे-सातवें गुणस्थान में आनन्दकन्द स्वभाव में झूलते थे। उनका नाम पद्मप्रभ था; अतः वे इस अरहन्त भगवान की गाथा में उनके नाम पर ही जिनका नाम था - ऐसे छठे पद्मप्रभ तीर्थंकर भगवान की पाँच श्लोकों द्वारा यहाँ स्तुति करते हैं।”

नाम की समानता एक आध्यात्मिक संत के लिए क्या महत्त्व रखती है; फिर भी जबतक कोई अन्य समर्थ कारण समझ में नहीं आता, तबतक इसे स्वीकार करने में भी कोई हानि नहीं है। पद्मप्रभ के स्थान पर अरहंत परमेष्ठी की भी स्तुति की जा सकती थी।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकंजाह्विराजः

सकलगुणसमाजः सर्वकल्पावनीजः ।

स जयति जिनराजः प्रास्तदुःकर्मबीजः

पदनुतसुरराजस्त्यक्तसंसारभूजः ॥१७॥

(हरिगीत)

जो गुणों के समुदाय एवं पुण्य कमलों के रवि।

कामना के कल्पतरु अर कामगज को केशरी॥

देवेन्द्र जिनको नमैं वे जयवन्त श्री जिनराजजी।

हे कर्मतरु के बीजनाशक तजा भव तरु आपने॥१७॥

जो कामदेवरूपी हाथी को मारने के लिए सिंह हैं, जो पुण्यरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य हैं, जो सभी गुणों के समाज (समुदाय) हैं, जो सभी इच्छित पदार्थों को देनेवाले कल्पवृक्ष हैं, जिन्होंने दुष्ट कर्मों के बीज को नष्ट कर दिया है; जिनके चरणों में सुरेन्द्र नमस्कार करते हैं और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है; वे जिनराज जयवंत हैं।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह

(मालिनी)

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः

परिणतसुखरूपः पापकीनाशरूपः।

हतभवपरितापः श्रीपदानम्रभूपः

स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ॥१८॥

(हरिगीत)

दुष्कर्म के यमराज जीता काम शर को आपने।

राजेन्द्र चरणों में नमैं रिपु क्रोध जीता आपने॥

सर्वविद्याप्रकाशक भवताप नाशक आप हो।

अरहंत जिन जयवंत जिनको सदा विद्वद्जन नमैं ॥१८॥

कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है, सभी विद्याओं के जो दीपक (प्रकाशक) हैं, जो सुखरूप से परिणमित हुए हैं, जो पापों के नाश के लिए यमराज हैं, जिन्होंने संसारताप का नाश किया है, महाराजा जिनके चरणों में नमते हैं, जिन्होंने क्रोध को जीत लिया है और विद्वानों का समुदाय जिनके आगे झुक जाता है, नत हो जाता है; वे अरहंत भगवान जयवंत हैं।

चौथा छन्द इसप्रकार है ह

(मालिनी)

जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः

प्रजितदुरितकक्षः प्रास्तकंदर्पपक्षः।

पदयुगनतयक्षः तत्त्वविज्ञानदक्षः

कृतबुधजनशिक्षा प्रोक्तनिर्व्वर्णादीक्षा ॥१९॥

(हरिगीत)

पद्मपत्रों सम नयन दुष्कर्म से जो पार हैं।

दक्ष हैं विज्ञान में अर यक्षगण जिनको नमैं॥

बुधजनों के गुरु एवं मुक्ति जिनकी विदित है।

कामनाशक जगप्रकाशक जगत में जयवंत हैं ॥१९॥

जिनका मोक्ष सर्वविदित है, जिनके नेत्र कमल पत्र के समान बड़े-बड़े हैं, पाप की भूमिका को जिन्होंने पार कर लिया है, कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है, यक्ष जिनके चरण युगल में नमस्कार करते हैं, तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष हैं, बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा दी है और निर्वाण दीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है; वे अरहंत जिन जयवंत हैं।

पाँचवाँ छन्द इसप्रकार है ह

(मालिनी)

मदननगसुरेशः कान्तकायप्रदेशः

पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः।

दुरघवनहुताशः कीर्तिसंपूरिताशः

जयति जगदधीशः चारुपद्मप्रभेशः ॥१००॥

(हरिगीत)

मदनगज को वज्रधर पर मदन सम सौन्दर्य है।

मुनिगण नमैं नित चरण में यमराज नाशक शौर्य है॥

पापवन को अनल जिनकी कीर्ति दशदिश व्याप्त है।

जगतपति जिन पद्मप्रभ नित जगत में जयवंत हैं ॥१००॥

कामदेवरूपी पर्वत को तोड़ देने के लिए जो वज्रधर इन्द्र के समान हैं, जिनका काय प्रदेश (शरीर) मनोहर है, मुनिवर जिनके चरणों में नमते हैं, यमराज के पाश का जिन्होंने नाश किया है, दुष्ट पापरूपी वन को जलाने के लिए जो अग्नि है, सभी दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गई है और जगत के जो अधीश हैं; वे सुन्दर पद्मप्रभेश जिनदेव जयवंत हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँचों छन्दों में मुख्यरूप से अरहंत परमेष्ठी के ही गीत गाये हैं; अरहंत परमेष्ठी के बहाने आत्मा के ही गीत गाये हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने भी यह महसूस किया था। यही कारण है कि पाँचों छन्दों के अन्त में वे अपने अभिप्राय को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह “यहाँ अरहन्त की व्याख्या में आत्मा के गुण गाए हैं। जिन्हें अरहन्त बनना हो, आत्मा की स्वतंत्रता प्रकट करनी हो, उन्हें ‘अपना आत्मा भी ऐसा ही है’ ह इसप्रकार जानना चाहिए। अरहन्त और सिद्ध होने का यही उपाय है ह अन्य कोई उपाय नहीं। अरहन्त आदि पाँच पद यह आत्मा के लिए व्यवहार हैं, निश्चय से आत्मा में ही पाँच पद हैं। इस आत्मा के लिए पंचपरमेष्ठी व्यवहार हैं ह निमित्त हैं।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त पाँचों छन्दों में एकप्रकार से अरहन्त परमेष्ठी की ही स्तुति की गई है।

टीकाकार मुनिराज एक आध्यात्मिक संत होने के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी हैं। यही कारण है कि वे प्रत्येक गाथा की टीका गद्य में लिखने के उपरान्त न केवल अन्य आचार्यों से संबंधित उद्धरण ही प्रस्तुत करते हैं; अपितु कम से कम एक या एक से अधिक छन्द स्वयं भी लिखते हैं।

उनके उक्त छन्दों में संबंधित विषयवस्तु का स्पष्टीकरण कम और भक्ति रस अधिक मुखरित होता है; साथ में काव्यगत सौन्दर्य भी दृष्टि-गोचर होता है। उपमा और रूपक अलंकारों की तो झड़ी लग रही है।

बीच में तीन छन्दों में तो पद्मप्रभ भगवान का कहीं नाम भी नहीं है; पर अन्त के छन्द में पद्मप्रभेशः पद प्राप्त होता है। इसीप्रकार आदि के पद में सुसीमा सुपुत्र पद प्राप्त होता है। इसप्रकार उक्त पाँच छन्दों में आदि के छन्द में सुसीमा सुपुत्रः और अन्त के छन्द में पद्मप्रभेशः ह इन दो पदों से ही यह पता चलता है कि यह पद्मप्रभ जिनेन्द्र की स्तुति है।

उक्त छन्दों में समागत उल्लेखों के आधार पर ही यह समझ लिया गया है कि पाँचों छन्दों में पद्मप्रभ जिनेन्द्र की ही स्तुति की गई है।

जो भी हो, पर भक्ति के इन छन्दों में भक्ति के साथ-साथ अध्यात्म का पुट भी रहता ही है।

नियमसार गाथा ७२

विगत गाथा में अरहन्त परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप पर विचार करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

णट्टकम्मबंधा अट्टमहागुणसमणिया परमा।

लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥७२॥

(हरिगीत)

नष्ट कीने अष्ट विध विधि स्वयं में एकाग्र हो।

अष्ट गुण से सहित सिध थित हुए हैं लोकाग्र में ॥७२॥

अष्टकर्मों के बंध को नष्ट करनेवाले, आठ महागुणों से सम्पन्न, परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य ह ऐसे सिद्धपरमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यहाँ सिद्धि के परम्परा हेतुभूत भगवान सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप कहा गया है।

सम्पूर्णतः अन्तर्मुखाकार, ध्यान-ध्येय के विकल्पों से रहित, निश्चय परम शुक्ल-ध्यान के बल से अष्टकर्मों के बंधन को नष्ट करनेवाले; क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों की पुष्टि से तुष्ट; विशिष्ट गुणों के धारक होने से तत्त्व के तीन स्वरूपों में परम; तीन लोक के शिखर के आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोकाग्र में स्थित; व्यवहार से अभूतपूर्व पर्याय से च्युत न होने के कारण नित्य ह ऐसे वे भगवन्त सिद्ध परमेष्ठी होते हैं।”

गाथा में सिद्ध भगवान की विशेषताओं को बताने के लिए जिन-जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है; टीका में उक्त सभी विशेषणों की हेतु सहित सार्थकता सिद्ध की गई है।

कहा गया है कि आठ कर्मों के बंधन से मुक्त सिद्ध भगवान क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्टगुणों से सम्पन्न हैं; लोकाग्र में स्थित हैं, परम हैं, नित्य हैं, लौटकर कभी संसार में नहीं आवेंगे। उन्होंने यह अवस्था ध्यान-ध्येय के विकल्पों से पार अन्तर्मुख शुक्लध्यान के बल से प्राप्त की है। वे सिद्ध भगवान हमारे आदर्श हैं; क्योंकि हमें उन्हीं जैसा बनना है।

टीका के उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द स्वयं लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह

(मालिनी)

व्यवहरणनयेन ज्ञानपुंजः स सिद्धः

त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात्।

सहजपरमचिञ्चिन्तामणौ नित्यशुद्धे

निवसति निजरूपे निश्चयेनैव देवः ॥१०१॥

(दोहा)

निश्चय से निज में रहें नित्य सिद्ध भगवान।

तीन लोक चूडामणी यह व्यवहार बखान ॥१०१॥

व्यवहारनय से ज्ञानपुंज वे सिद्ध भगवान तीन लोकरूपी पर्वत की चोटी के ठोस चूडामणि हैं और निश्चयनय से सहज परमचैतन्य चिन्तामणि स्वरूप नित्य शुद्ध निजरूप में वास करते हैं।

तात्पर्य यह है कि वे सिद्ध भगवान निश्चय से तो निज में ही रहते हैं; पर व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि वे लोकाग्र में स्थित सिद्धशिला पर विराजमान हैं।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह

(स्रग्धरा)

नीत्वास्तान् सर्वदोषान् त्रिभुवनशिखरे ये स्थिता देहमुक्ताः

तान् सर्वान् सिद्धिसिद्धयै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान् ।

सिद्धान् नष्टानष्टकर्मप्रकृतिसमुदयान् नित्यशुद्धाननन्तान्

अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान् ॥१०२॥

(वीर)

देहमुक्त लोकाग्र शिखर पर रहे नित्य अन्तर्यामी।

अष्ट कर्म तो नष्ट किये पर मुक्ति सुन्दरी के स्वामी ॥

सर्व दोष से मुक्त हुए पर सर्वसिद्धि के हैं दातार।

सर्वसिद्धि की प्राप्ति हेतु मैं करूँ वन्दना बारंबार ॥१०२॥

जो सर्व दोषों को नष्ट करके देह से मुक्त होकर तीन लोक के शिखर पर विराजमान हैं, जो अनुपम निर्मल ज्ञान-दर्शनशक्ति से युक्त हैं; जिन्होंने आठों कर्म की प्रकृतियों के समुदाय को नष्ट किया है; जो नित्य शुद्ध हैं, अनंत हैं, अव्याबाध हैं, तीन लोक के तिलक हैं और मुक्ति सुन्दरी के स्वामी हैं; उन सभी सिद्धों को सिद्धि की कामना से नमस्कार करता हूँ।

उक्त छन्द में सिद्ध भगवान की स्तुति करते हुए उनके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उनका वास्तविक स्वरूप यह है कि वे सर्व दोषों से मुक्त हैं, देह से भी मुक्त

हो गये हैं और लोकाग्र में स्थित हैं। उनके ज्ञान-दर्शनादि सभी गुणों का परिणामन पूर्ण निर्मल हो गया है और वे आठों कर्मों की १४८ प्रकृतियों से पूर्णतः मुक्त हैं। ऐसे सिद्ध भगवान संख्या में अनंत हैं, प्रत्येक में अनंत-अनंत गुण हैं, उन्हें अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो गई है; अब उसमें अनंत काल में कभी कोई बाधा आनेवाली नहीं है।

मैं भी उन जैसा ही बनना चाहता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी अन्य कोई चाह नहीं है। अतः मैं उन्हें पूर्णतः निस्वार्थ भाव से नमस्कार करता हूँ।

तीसरा छन्द इसप्रकार है ह

(अनुष्टुभ्)

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसंपदः ।

नष्टानष्टकर्मसंदोहान् सिद्धान् वंदे पुनः पुनः ॥१०३॥

(दोहा)

जो स्वरूप में थिर रहे शुद्ध अष्ट गुणवान।

नष्ट किये विधि अष्ट जिन नमों सिद्ध भगवान ॥१०३॥

जो निज स्वरूप में स्थित हैं, शुद्ध हैं; जिन्होंने अष्टगुणरूपी सम्पत्ति प्राप्त की है। अष्ट कर्मों का नाश किया है; उन सिद्ध भगवन्तों को मैं बार-बार वंदन करता हूँ।

नियमसार गाथा ७३

विगत गाथा में सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में आचार्य परमेष्ठी के स्वरूप पर विचार करते हैं।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

पंचाचारसमग्गा पंचिन्दियदंतिदप्पणिहलणा ।

धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति ॥७३॥

(हरिगीत)

पंचेन्द्रिय गजमदगलन हरि मुनि धीर गुण गंभीर अर ।

परिपूर्ण पंचाचार से आचार्य होते हैं सदा ॥७३॥

पंचाचारों से परिपूर्ण, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर और गुणों से गंभीर मुनिराज आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यहाँ आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण नामक पाँच इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथियों के अभिमान को दलन कर देने में दक्ष; सभी प्रकार के घोर उपसर्ग पर विजय प्राप्त करनेवाले धीर एवं गुणों में गंभीर हूँ इसप्रकार के लक्षणों से लक्षित मुनिराज आचार्य भगवन्त होते हैं।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“आत्मा ज्ञानानन्द चैतन्यमूर्ति है, पर की क्रिया से तथा पुण्य-पाप के विकार से भिन्न है हूँ ऐसा ज्ञान प्रकट होना **ज्ञानाचार** है; शुद्ध निर्विकल्प स्वभाव की प्रतीति प्रकट होना **दर्शनाचार** है; स्वभाव के भानसहित अन्तर वीतरागी लीनता प्रकट होना **चारित्राचार** है; इच्छा-निरोधरूप तप अथवा त्रिकालीस्वभाव के आश्रय से वीतरागीदशा का प्रतपन होना **तपाचार** है; तथा आत्मा का बल अर्थात् अन्तरगुणों को विकसित करनेवाला पुरुषार्थ **वीर्याचार** है। इन पाँचों आचारों से आचार्य भगवान परिपूर्ण होते हैं।”

जो अन्दर स्वरूप में लीन हैं, पाँच इन्द्रियरूपी हाथी को अर्थात् पाँच इन्द्रियों के लक्ष से होनेवाले विकार को चूर्ण करने में निपुण हैं; वे ही सच्चे आचार्य हैं।

समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्तकर्ता होने से आचार्य भगवान धीर और गुणगम्भीर हैं। बाहर में घोर उपसर्ग आ पड़े, प्रतिकूलता के प्रसंग आ जावें; तथापि ज्ञानानन्दस्वरूप के परमशान्तरस में लीन रहने के कारण आचार्यदेव अत्यन्त धीर होते हैं।”

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस गाथा और उसकी टीका में पंचाचार के धनी, पंचेन्द्रियजयी, उपसर्गविजेता और धीर-गंभीर आचार्यदेव के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

इसके बाद ‘तथा श्री वादिराजदेव के द्वारा भी कहा गया है’ हूँ ऐसा कहकर टीकाकार मुनिराज एक छन्द उद्धृत करते हैं; जो इसप्रकार हैह

(शार्दूलविक्रीडित)

पंचाचारपरान्नकिंचनपतीन्नष्टकषायाश्रमान्

चंचज्ज्ञानबलप्रपंचितमहापंचास्तिकायस्थितीन्।

स्फाराचंचलयोगचंचुरधियः सूरीनुदंचदगुणान्

अंचामो भवदुःखसंचयभिदे भक्तिक्रियाचंचवः॥३२॥^१

(हरिगीत)

अकिंचनता के धनी परवीण पंचाचार में।

अर जितकषायी निपुणबुद्धि हैं समाधि योग में॥

ज्ञानबल से बताते जो पंच अस्तिकाय हम।

उन्हें पूजें भवदुःखों से मुक्त होने के लिए॥३२॥

पंचाचारपरायण, अकिंचनता के स्वामी, कषायभावों को नष्ट करनेवाले और विकसित स्थिर समाधि में निपुणबुद्धिवाले आचार्यदेव परिणमित ज्ञान के बल से पंचास्तिकाय के स्वरूप को समझाते हैं। उन उछलते हुए अनंत गुणों के धनी आचार्य भगवन्तों को सांसारिक दुःखों की राशि को भेदने के लिए, भक्तिक्रिया में कुशल हम लोग पूजते हैं।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं ह

“आचार्यपद में गुण की पर्यायें विशेष विकसित हैं। यद्यपि सामान्य आचरण तो सभी मुनियों का समान होता है, किन्तु आचार्य के ज्ञान के क्षयोपशम की विशेषता, विचक्षणता, संघ के नायक होने की कुशलता, पंचाचार आचरण कराने में निपुणता तथा दीक्षा-शिक्षा देना आदि उनकी विशेषताएँ हैं।

ऐसे आचार्यों को भक्तिक्रिया में कुशल भक्त हम अपनी भव-दुःखराशि को भेदने के लिए पूजते हैं।”

इस छन्द में सभी प्रकार के सभी परिग्रहों से रहित अकिंचन, पंचाचारों के धनी, आत्मध्यान में निपुण आचार्यों को षट्द्रव्यों के स्वरूप का निरूपक बताया गया है; साथ में निर्मल पर्याय से परिणमित गुणोंवाले आचार्य भगवन्तों को भवदुःख निवारण हेतु भक्तिभाव से नमस्कार किया गया है।

इसके बाद 'तथा हि' लिखकर एक छन्द वे स्वयं भी लिखते हैं, जिसमें महामुनि चन्द्रकीर्तिजी की वंदना की गई है।

वह छन्द इसप्रकार है ह

(हरिणी)

सकलकरणग्रामालंबाद्विमुक्तमनाकुलं
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम् ।
शमदमयमावासं मैत्रीदयादममंदिरं
निरुपमिदं वंद्यं श्रीचन्द्रकीर्तिमुनेर्मनः ॥१०४॥

(हरिगीत)

सब इन्द्रियों के सहारे से रहित आकुलता रहित।

स्वहित में नित हैं निरत मैत्री दया दम के धनी ॥

मुक्ति के जो हेतु शम, दम, नियम के आवास जो।

उन चन्द्रकीर्ति महामुनि का हृदय वंदन योग्य है ॥१०४॥

सभी इन्द्रियों के आलंबन से रहित; अनाकुल; स्वहित में निरत, शुद्ध; मुक्ति के कारण; शम, दम और यम के आवास; मित्रता, दया और दम के मंदिर; श्री चन्द्रकीर्ति मुनि का अनुपम मन वंदनीय है।

इस छन्द में टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव श्रीचन्द्रकीर्ति मुनिराज को वंदनीय बता रहे हैं, उनकी वंदना कर रहे हैं।

ये चन्द्रकीर्ति मुनिराज कौन हैं ?

यद्यपि इस संदर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है; तथापि यह अनुमान तो किया ही जा सकता है कि वे पद्मप्रभमलधारिदेव के गुरु रहे होंगे या फिर उस समय के विशेष प्रभावशाली सन्त होंगे।

जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश में एक चन्द्रकीर्ति मुनिराज का उल्लेख है; जिन्हें मलधारिदेव के शिष्य और दिवाकरनंदि का गुरु बताया गया है। हो सकता है कि उक्त मलधारिदेव टीकाकार मलधारिदेव से भिन्न हों।^१

जो भी हो, पर यहाँ उन्हें जितेन्द्रिय, शमी, दमी, यमी और सभी प्राणियों से मैत्रीभाव रखनेवाले दयालु संत बताया गया है।

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग - २, पृष्ठ २७५

नियमसार गाथा ७४

विगत गाथा में आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप बताया गया है और अब इस गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप बताया जा रहा है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

रयणत्तयसंजुता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥७४॥

(हरिगीत)

रतन त्रय संयुक्त अर आकांक्षाओं से रहित।

तत्त्वार्थ के उपदेश में जो शूर वे पाठक मुनी ॥७४॥

रतनत्रय से संयुक्त, जिनेन्द्रकथित पदार्थों को समझाने में शूरवीर और निकांक्षभावनावाले मुनिराज उपाध्याय परमेष्ठी होते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमल-धारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यह अध्यापक अर्थात् उपाध्याय नामक परमगुरु के स्वरूप का कथन है। अविचलित, अखण्ड, अद्वैत परमचिद्रूप आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप शुद्धनिश्चयस्वभावरतनत्रयवाले; जिनेन्द्र भगवान के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि सभी पदार्थों का उपदेश देने में शूरवीर; समस्त परिग्रह के परित्यागस्वभावी निरंजन निज परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न होनेवाले, परमवीतरागसुखामृत के पान के सन्मुख होने से निष्कांक्षभावनावाले मुनिराज जैनियों में उपाध्याय होते हैं।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“आत्मा अखण्ड एवं मात्र ज्ञानरूप है, वह अपने परमचैतन्यरूप से कभी चलित नहीं होता। ऐसे आत्मा की यथार्थ श्रद्धा, यथार्थ ज्ञान और उस परमचैतन्यरूप आत्मा में रमणतारूप अनुष्ठान-निर्विकल्प लीनतारूप चारित्र उपाध्याय परमेष्ठी के होता है।^१

जिनेन्द्रभगवान के मुखकमल में से निकले हुए जीवादि नवपदार्थ, साततत्त्व, छहद्रव्य के उपदेश करने में उपाध्याय शूरवीर होते हैं।^२

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ६१५

२. वही, पृष्ठ ६१६

उपाध्याय ज्ञान-दर्शन-सुख आदि अनन्त गुणों का पिण्ड ऐसा जो जीव ह उसे जीवरूप से समझाते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ह इन पाँच द्रव्यों को अजीवरूप से जैसे हैं, वैसे समझाते हैं। पुण्य और पाप को आस्रवरूप से समझाते हैं। आत्मा में शुद्धि के प्रकट होने और अशुद्धि के रुकने को संवर कहते हैं। शुद्धि की एकदेशवृद्धि और अशुद्धि की एकदेशहानि को निर्जरा कहते हैं। आत्मा में परिपूर्ण शुद्धता होने को मोक्ष कहते हैं। इसप्रकार उपाध्याय सर्वज्ञ-वीतराग-कथित जीवादि पदार्थों को समझाने में ह उपदेश देने में शूरीर होते हैं।^१

आत्मा निरंजनस्वभाव स्वरस का कन्द है, उसमें से उत्पन्न होनेवाले परमवीतराग सुखामृत के सन्मुख हैं, इसलिए उपाध्याय निःकांक्षभावना सहित हैं। दिगम्बर धर्म में उपाध्याय इस लक्षण द्वारा लक्षित होते हैं।^२”

उक्त गाथा में उपाध्याय परमेष्ठी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप से परिणामित, सभी प्रकार की आकांक्षाओं से रहित और वस्तुस्वरूप को समझाने में शूरीर मुनिराज उपाध्याय कहे जाते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी मुनिसंघ में अध्यापन का कार्य करते हैं।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है ह

(अनुष्टुभ्)

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्यांभोजदिवाकरान् ।

उपदेशुपाध्यायान् नित्यं वंदे पुनः पुनः ॥१०५॥

(दोहा)

वंदे बारम्बार हम भव्यकमल के सूर्य।

उपदेशक तत्त्वार्थ के उपाध्याय वैडूर्य॥१०५॥

रत्नत्रयमय, शुद्ध, भव्यजीवरूपी कमलों को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य और उपदेश देनेवाले उपाध्याय परमेष्ठियों की मैं नित्य बारम्बार वंदना करता हूँ।

इस छन्द में संतों को स्वाध्याय करानेवाले उपाध्याय परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है।